

## धर्म और बुद्धि

आज तक किसी भी विचारकने यह नहीं कहा कि धर्मका उत्पाद और विकास बुद्धिके सिवाय और भी किसी तत्त्वसे हो सकता है। प्रत्येक धर्म-संप्रदायका इतिहास यही कहता है कि असुक बुद्धिमान् पुरुषके द्वारा ही उस धर्मकी उत्पत्ति या शुद्धि हुई है। हरेक धर्म-संप्रदायके पोषक धर्मगुरु और विद्वान् इसी एक बातका स्थापन करनेमें गौरव समझते हैं कि उनका धर्म बुद्धि, तर्क, विचार और अनुभव-सिद्ध है। इस तरह धर्मके इतिहास और उसके संचालनके व्यावहारिक जीवनको देखकर हम केवल एक ही नतीजा निकाल सकते हैं कि बुद्धितत्त्व ही धर्मका उत्पादक, उसका संशोधक, पोषक और प्रचारक रहा है और रह सकता है।

ऐसा होते हुए भी हम धर्मोंके इतिहासमें बराबर धर्म और बुद्धितत्त्वका विरोध और पारस्परिक संघर्ष देखते हैं। केवल यहाँके आर्य धर्मकी शाखाओंमें ही नहीं बल्कि यूरोप आदि अन्य देशोंके ईसाई, इस्लाम आदि अन्य धर्मोंमें भी हम भूतकालीन इतिहास तथा वर्तमान घटनाओंमें देखते हैं कि जहाँ बुद्धि तत्त्वने अपना काम शुरू किया कि धर्मके विषयमें अनेक शंका-प्रतिशंका और तर्क-वितर्कपूर्ण प्रश्नावली उत्पन्न हो जाती है। और बड़े आश्चर्यकी बात है कि धर्मगुरु और धर्माचार्य जहाँ तक हो सकता है उस प्रश्नावलीका, उस तर्कपूर्ण विचारणाका आदर करनेके बजाय विरोध ही नहीं, सख्त विरोध करते हैं। उनके ऐसे विरोधी और संकुचित व्यवहारसे तो यह जाहिर होता है कि अगर तर्क, शंका या विचारको जगह दी जायगी, तो धर्मका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा अथवा वह विकृत होकर ही रहेगा। इस तरह जब हम चारों तरफ धर्म और विचारणाके बीच विरोध-सा देखते हैं तब हमारे मनमें यह प्रश्न होना

स्वाभाविक है कि क्या धर्म और बुद्धिमें विरोध है ? इसके उत्तरमें संक्षेपमें इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि उनके बीच कोई विरोध नहीं है और न हो सकता है । यदि सचमुच ही किसी धर्ममें इनका विरोध माना जाय तो हम यही कहेंगे कि उस बुद्धि-विरोधी धर्मसे हमें कोई मतलब नहीं । ऐसे धर्मको अंगीकार करनेकी अपेक्षा उसको अंगीकार न करनेमें ही जीवन सुखी और विकसित रह सकता है ।

धर्मके दो रूप हैं, एक तो जीवन-शुद्धि और दूसरा बाह्य व्यवहार । क्षमा, नम्रता, सत्य, संतोष आदि जीवनगत गुण पहिले रूपमें आते हैं और स्नान, तिलक, मूर्तिपूजन, यात्रा, गुरुसत्कार, देहदमनादि बाह्य व्यवहार दूसरे रूपमें । सात्त्विक धर्मका इच्छुक मनुष्य जब अहिंसाका महत्त्व गाता हुआ भी पूर्व-संस्कारवश कभी कभी उसी धर्मकी रक्षाके लिए हिंसा, पारम्परिक पक्षपात तथा विरोधीपर प्रहार करना भी आवश्यक बतलाता है। सत्यका हिमायती भी ऐन मौकेपर जब सत्यकी रक्षाके लिए असत्यकी शरण लेता है, सबको 'सन्तुष्ट' रहनेका उपदेश देनेवाला भी जब धर्म-समर्थनके लिए परिग्रहकी आवश्यकता बतलाता है, तब बुद्धिमानोंके दिलमें प्रश्न होता है कि अधर्मस्वरूप समझे जानेवाले हिंसा आदि दोषोंसे जीवन-शुद्धि-रूप धर्मकी रक्षा या पुष्टि कैसे हो सकती है ? फिर वही बुद्धिशाली वर्ग अपनी शंकाको उन विपरीतगामी गुरुओं या पंडितोंके सामने रखता है । इसी तरह जब बुद्धिमान् वर्ग देखता है कि जीवन-शुद्धिका विचार किये बिना ही धर्मगुरु और पंडित बाह्य क्रियाकाण्डोंको ही धर्म कहकर उनके ऊपर ऐकान्तिक भार दे रहे हैं और उन क्रियाकाण्डों एवं नियत भाषा तथा वेशके बिना धर्मका चला जाना, नष्ट हो जाना, बतलाते हैं तब वह अपनी शंका उन धर्म-गुरुओं पंडितों आदिके सामने रखता है कि वे लोग जिन अस्थायी और परस्पर असंगत बाह्य व्यवहारोंपर धर्मके नामसे पूरा भार देते हैं उनका सब्से धमसे क्या और कदांतक सम्बन्ध है ? प्रायः देखा जाता है कि जीवन-शुद्धि न होनेपर, बल्कि अशुद्ध जीवन होनेपर भी, ऐसे बाह्य-व्यवहार, अज्ञान, ब्रह्म, स्वार्थ एवं भोलेपनके कारण मनुष्यकी धर्मोत्तमा समझ लिया जाता है । ऐसे ही बाह्य-व्यवहारोंके कम होते हुए या दूसरे प्रकारके बाह्य व्यवहार होनेपर भी सात्त्विक धर्मका होना सम्भव हो सकता है । ऐसे प्रश्नोंके सुनते ही उन धर्म-गुरुओं और धर्म-पंडितोंके मनमें

एक तरहकी भीति पैदा हो जाती है। वे समझने लगते हैं कि ये प्रश्न करनेवाले वास्तवमें तात्त्विक धर्मवाले तो हैं नहीं, केवल निरी तर्कशक्तिसे हम लोगोंके द्वारा धर्मरूपसे मनाये जानेवाले व्यवहारोंको अधर्म बतलाते हैं। ऐसी दशामें धर्मका व्यावहारिक बाह्यरूप भी कैसे टिक सकेगा? इन धर्म-गुरुओंकी दृष्टिमें ये लोग अवश्य ही धर्म-द्रोही या धर्म-विरोधी हैं। क्यों कि वे ऐसी स्थितिके प्रेरक हैं जिसमें न तो जीवन-शुद्धिरूपी असली धर्म ही रहेगा और न झूठा सच्चा व्यावहारिक धर्म ही। धर्मगुरुओं और धर्म-पंडितोंके उक्त भय और तज्जन्य उलटी विचारणामेंसे एक प्रकारका द्वन्द्व शुरू होता है। व सदा स्थायी जीवन-शुद्धिरूप तात्त्विक धर्मको पूरे विश्लेषणके साथ समझानेके बदले बाह्य-व्यवहारोंको विकलाबाधित कहकर उनके ऊपर यहाँ तक जोर देते हैं कि जिससे बुद्धिमान् वर्ग उनकी दलीलोंसे ऊबकर, असन्तुष्ट होकर यही कह बैठता है कि गुरु और पंडितोंका धर्म सिर्फ ढकोसला है—धोखेका टट्टी है। इस तरह धर्मापदेशक और तर्कवादी बुद्धिमान् वर्गके बीच प्रतिक्षेप अन्तर और विरोध बढ़ता ही जाता है। उस दशामें धर्मका आधार विवेकशून्य श्रद्धा, अज्ञान या बहम ही रह जाता है और बुद्धि एवं तज्जन्य गुणोंके साथ धर्मका एक प्रकारमें विरोध दिखाई देता है।

यूरोपका इतिहास बताता है कि विज्ञानका जन्म होते ही उसका सबसे पहला प्रतिरोध ईसाई धर्मकी ओरसे हुआ। अन्तमें इस प्रतिरोधसे धर्मका ही सर्वथा नाश देखकर उसके उपदेशकोंने विज्ञानके मार्गमें प्रतिपत्नी भावसे आना ही छोड़ दिया। उन्होंने अपना क्षेत्र ऐसा बना लिया कि वे वैज्ञानिकोंके मार्गमें बिना बाधा डाले ही कुछ धर्मकार्य कर सकें। उधर वैज्ञानिकोंका भी क्षेत्र ऐसा निष्कण्टक हो गया कि जिससे वे विज्ञानका विकास और सम्भवन निर्वोध रूपसे करते रहें। इसका एक सुन्दर और महत्त्वका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक और अन्तमें राजकीय क्षेत्रसे भी धर्मका डेरा उठ गया और फलतः वहाँकी सामाजिक और राजकीय संस्थायें अपने ही गुण-दोषोंर बनने बिगड़ने लगीं।

इस्लाम और हिन्दू धर्मकी सभी शाखाओंकी दशा इसके विपरीत है। इस्लामी दीन और धर्मोंकी अपेक्षा बुद्धि और तर्कवादसे अधिक घबड़ाता है।

शायद इसीलिए वह धर्म अभी तक किसी अन्यतम महात्माको पैदा नहीं कर सका और स्वयं स्वतन्त्रताके लिए उत्पन्न होकर भी उसने अपने अनुयायियोंको अनेक सामाजिक तथा राजकीय बन्धनोंसे जकड़ दिया। हिन्दू धर्मकी शाखाओंका भी यही हाल है। वैदिक हो, बौद्ध हो या जैन, सभी धर्म स्वतन्त्रताका दावा तो बहुत करते हैं, फिर भी उनके अनुयायी जीवनके हरेक क्षेत्रमें अधिकसे अधिक गुलाम हैं। यह स्थिति अब विचारकोंके दिलमें खटकने लगी है। वे सोचते हैं कि जब तक बुद्धि, विचार और तर्कके साथ धर्मका विरोध समझा जायगा तब तक उस धर्मसे किसीका भला नहीं हो सकता। यही विचार आजकलके युवकोंकी मानसिक क्रान्तिका एक प्रधान लक्षण है।

राजनीति, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र, इतिहास और विज्ञान आदिका अभ्यास तथा चिन्तन इतना अधिक होने लगा है कि उससे युवकोंके विचारोंमें स्वतन्त्रता तथा उनके प्रकाशनमें निर्भयता दिखाई देने लगी है। इधर धर्मगुरु और धर्मपंडितोंका उन नवीन विद्याओंसे परिचय नहीं होता, इस कारण वे अपने पुराने, बहमी, संकुचित और भीड़ खयालोंमें ही विचरते रहते हैं। ज्यों ही युवकवर्ग अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने लगता है त्यों ही धर्मजीवी महात्मा घबड़ाने और कहने लगते हैं कि विद्या और विचारने ही तो धर्मका नाश शुरू किया है। जैनसमाजकी ऐसी ही एक ताजी घटना है। अहमदावादमें एक प्रेज्युएट वकीलने जो मध्यश्रेणीके निर्भय विचारक हैं, धर्मके व्यावहारिक स्वरूपपर कुछ विचार प्रकट किये कि चारों ओरसे विचारके कब्रस्तानोंसे धर्म-गुरुओंकी आत्मायें जाग पड़ीं। हलचल होने लग गई कि ऐसा विचार प्रकट क्यों किया गया और उस विचारकको जनधर्मोचित सजा क्या और कितनी दी जाय ? सजा ऐसी हो कि हिंसात्मक भी न समझी जाय और हिंसात्मक सजासे अधिक कठोर भी सिद्ध हो, जिससे आगे कोई स्वतन्त्र और निर्भय भावसे धार्मिक विषयोंकी समीक्षा न करे। हम जब जैनसमाजकी ऐसी ही पुरानी घटनाओं तथा आधुनिक घटनाओंपर विचार करते हैं तब हमें एक ही बात मालूम होती है और वह यह कि लोगोंके खयालमें धर्म और विचारका विरोध ही जँच गया है। इस जराह हमें थोड़ी गहराईसे विचार-विदलेषण करना होगा।

हम उन धर्मधुरंधरोंसे पूछना चाहते हैं कि क्या वे लोग तात्त्विक और व्यावहारिक धर्मके स्वरूपको अभिन्न या एक ही समझते हैं ? और क्या व्यावहारिक स्वरूप या बंधारणको वे अपरिवर्तनीय साबित कर सकते हैं ? व्यावहारिक धर्मका बंधारण और स्वरूप अगर बदलता रहता है और बदलना चाहिए तो इस परिवर्तनके विषयमें विशेष यदि कोई अभ्यासी और चिन्तनशील विचारक केवल अपना विचार प्रदर्शित करे, तो इसमें उनका क्या विगड़ता है ?

सत्य, अहिंसा, संतोष आदि तात्त्विक धर्मका तो कोई विचारक अनादर करता ही नहीं बल्कि वह तो उस तात्त्विक धर्मकी पुष्टि, विकास एवं उपयोगिताका स्वयं कायल होता है। वे जो कुछ आलोचना करते हैं, जो कुछ हेर-फेर या तोड़-फोड़की आवश्यकता बताते हैं वह तो धर्मके व्यावहारिक स्वरूपके सम्बन्धमें है और उसका उद्देश्य धर्मकी विशेष उपयोगिता एवं प्रतिष्ठा बढ़ाना है। ऐसी स्थितिमें उनपर धर्म-विनाशका आरोप लगाना या उनका विरोध करना केवल यही साबित करता है कि या तो धर्मधुरंधर धर्मके वास्तविक स्वरूप और इतिहासको नहीं समझते या समझते हुए भी ऐसा पापमय प्रयत्न करनेमें उनकी कोई परिस्थिति कारणभूत है।

आम तौरसे अनुयायी गृहस्थ वर्ग ही नहीं बल्कि साधु वर्गका बहुत बड़ा भाग भी किसी वस्तुका समुचित विश्लेषण करने और उसपर समतोलपन रखनेमें नितान्त असमर्थ है। इस स्थितिका फायदा उठा कर संकुचितमना साधु और उनके अनुयायी गृहस्थ भी, एक स्वरसे कहने लगते हैं कि ऐसा कहकर अमुकने धर्मनाश कर दिया। बेचारे भोलेभाले लोग इस बातसे अज्ञानके और भी गहरे गढ़में जा गिरते हैं। वास्तवमें चाहिए तो यह कि कोई विचारक नये दृष्टि-किन्दुसे किसी विषयपर विचार प्रगट करें तो उनका सच्चे दिलसे आदर करके विचार-स्वातंत्र्यको प्रोत्साहन दिया जाय। इसके बदलेमें उनका गला घोटनेका जो प्रयत्न चारों ओर देखा जाता है उसके मूलमें सुझे दो तत्त्व मालूम होते हैं। एक तो उग्र विचारोंको समझ कर उनकी गलती दिखानेका असामर्थ्य और दूसरा अकर्मण्यताकी भित्तिके ऊपर अनायास मिलनेवाली आराम-तलबीके विनाशका भय।

यदि किसी विचारकके विचारोंमें आशिक या सर्वथा गलती हो तो क्या उसे

साधुगण समझ नहीं पाते ? अगर वे समझ सकते हैं तो क्या उस गल्तीको वे चौगुने बलसे दलीलोंके साथ दर्शानेमें असमर्थ हैं ? अगर वे समर्थ हैं तो उचित उत्तर देकर उस विचारका प्रभाव लोगोंमेंसे नष्ट करनेका न्याय्य मार्ग क्यों नहीं लेते ? धर्मकी रक्षाके बहाने वे अज्ञान और अधर्मके संस्कार अपनेमें और समाजमें क्यों पुष्ट करते हैं ? मुझे तो सच बात यही जान पड़ती है कि चिरकालसे शारीरिक और दूसरा जवाबदेही पूर्ण परिश्रम किये बिना ही मस्त्रमली और रेशमी गद्दियोंपर बैठकर दूसरोंके पसीनेपूर्ण परिश्रमका पूरा फल बड़ी भक्तिके साथ चखनेकी जो आदत पड़ गई है, वही इन धर्मधुरंधरोंसे ऐसी उपहासास्पद प्रवृत्ति कराती है। ऐसा न होता तो प्रमोद-भावना और ज्ञान-गूजाकी हिमायत करनेवाले ये धर्मधुरंधर विद्या, विज्ञान और विचार-स्वातन्त्र्यका आदर करते और विचारक युवकोंसे बड़ी उदारतासे मिलकर उनके विचारगत दोषोंको दिखाने और और उनकी योग्यताकी कद्र करके ऐसे युवकोंको उत्पन्न करनेवाले अपने जैनसमाजका गौरव करते। खैर, जो कुछ हो पर अब दोनों पक्षोंमें प्रतिक्रिया शुरू हो गई है। जहाँ एक पक्ष ज्ञात या अज्ञात रूपसे यह स्थापित करता है कि धर्म और विचारमें विरोध है, तो दूसरे पक्षको भी यह अवसर मिल रहा है कि वह प्रमाणित करे कि विचार-स्वातन्त्र्य आवश्यक है। यह पूर्ण रूपसे समझ रखना चाहिए कि विचार-स्वातन्त्र्यके बिना मनुष्यका अस्तित्व ही अर्थशून्य है। वास्तवमें विचार तथा धर्मका विरोध नहीं, पर उनका पारस्परिक अनिवार्य सम्बन्ध है।

[ ओसवाल नवयुवक, अगस्त १९३६ ]